भूमिका

19 वीं सदी में हुए आविष्कारों में से 'सिनेमा' ने सबसे ज्यादा अचंभित किया। सिनेमा का जादू आज तक बरकरार है। जब 7 जुलाई 1895 को सिनेमा का आविष्कार हुआ और जनता ने अपनी ही ज़िंदगी के क्षणों को पर्दे पर चलते फिरते देखा तो वह इसके जादू से मंत्रमुग्ध थे। जिस समय सिनेमा का जन्म हुआ तब लोगों के लिए सिर्फ जादू था। हर कोई सिनेमा के जादू को पर्दे पर देखना चाहता था। उस समय सिनेमा लोगों का खूब मनोरंजन कर रहा था। 7 जुलाई 1895 में फ्रांस की राजधानी पेरिस में सिनेमा का जन्म हुआ 'अगस्ट' एवं 'लुईस' लुमिएर इसके जन्मदाता थे। 'अराइवल ऑफ द ट्रेन एट द स्टेशन एट किओतात' दुनिया की पहली फिल्म मानी जाती है। 28 दिसंबर 1895 पेरिस के ग्रैंड कैफे नामक रेस्टोरेंट में पहली बार फिल्मों के एक समुह का प्रदर्शन किया गया जिसमें कई छोटी-छोटी फिल्मे थी। जिन फिल्मों का प्रदर्शन किया गया उन में से एक फिल्म में लुमिएर की पत्नि बच्चे को दूध पीला रही है, दूसरी फिल्म में माली बाग में पाइप से पानी दे रहा है। एक लड़का आ कर अचानक पाइप पर पैर रख देता है, पाइप से पानी रुक जाता है। जब लड़का पैर हटाता है तो पानी तेजी से माली के चेहरे पर गिरता है। यह द्रश्य स्वतः ही मनोरंजन पैदा कर देता है। इन फिल्मों में कोई कहानी एवं दृश्य संयोजन नहीं था। दोनों फिल्में आम जीवन के क्रियाकलापों की रिकॉर्डिंग थी। जल्दी ही यह छोटी-छोटी फिल्में मनोरंजन के प्रमुख साधनों में शामिल हो गई। प्रारंभिक दौर में सिनेमा का उद्देश्य सिर्फ लोगों का मनोरंजन करके धन कमाना था। **"फिल्मों के प्रति लोगों का आकर्षण, उत्साह और समर्थन देखकर सिनेमा की व्यापारिक संभावनाओं को सबसे पहले लुमिएर बंधुओं ने भाव लिया था"**[1] सिनेमा से संबंधित शोध अन्य देशों में भी चल रहे थे। लुमिएर बंधु को इस बात का यकीन था कि उनका आविष्कार लोगों पर जादुई असर करेगा और हुआ भी ऐसा ही। वे अमेंरिका, इंग्लैंड और जर्मनी में चल रहे सिनेमा के विकास से संबंधित प्रयोगों की प्रगति पर नजर रखे हुए थे। उनका मानना था कि अगर बाजार में सिनेमेंटोग्राफ जैसी तकनीक के साथ कोई अन्य प्रतियोगी आ गया तो उन्हे कड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ सकता है इसलिए जितना हो सके अधिक से अधिक धन कमा लेना चाहिए। इसी सोच के साथ उन्होनें जल्दी ही पच्चीस और नई सिनेमेंटोग्राफ मशीनों का निर्माण कर लिया। लुमिएर बंधु द्वारा विकसित सिनेमेंटोग्राफ तीन तरह के काम करता था। पहला – शूट करना, दूसरा – प्रोसेसिंग करना, तीसरा – पर्दे पर प्रोजेक्ट (दिखाना) करना। अपने पहले प्रदर्शन की सफलता को देखकर उन्होनें 50 छोटी-छोटी फिल्मों

[1] श्रीनेत दिनेश, पश्चिम और सिनेमा, 2012, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली पृ.स. 07

को शूट करके रख लिया ताकि एक फिल्म की सफलता के बाद तुरंत बिना किसी दबाव के अगली फिल्म लोगों को दिखा सके। लुमिएर बंधु कि यह दूरदर्शिता उनकी व्यापारिक सोच को स्पष्ट करती है। लुमिएर बंधु ने कर्मचारियों को प्रशिक्षित किया और फिल्मों के प्रदर्शन हेतु अलग-अलग देशों में भेजा। आज के फिल्म वितरण के स्वरूप कि शुरुआत सिनेमा के जन्म के साथ – साथ ही चल रही थी। लुमिएर बंधु द्वारा विकसित सिनेमेंटोग्राफ आकार में छोटा और लाने ले जाने में सुविधा जनक था। लुमिएर बंधु के एजेंट विश्व के अधिकांश देशों में पहुँच गये एवं वहाँ फिल्मों का प्रदर्शन शुरू कर दिया। अधिकांश देशों में सिनेमा के प्रदर्शन के साथ ही यह एक महान ऐतिहासिक घटना बन गई। शीघ्र ही सिनेमा भारत पहुँच गया। संयोग से सिनेमा भारत में थोड़ा जल्दी पहुँच गया। उन्होंने अपने जिस एजेंट को फिल्म पैकेज के साथ ऑस्ट्रेलिया के लिए रवाना किया था उसका नाम मॉरिस सेस्टियर था। मॉरिस को बंबई (मुंबई) आने पर पता चला कि ऑस्ट्रेलिया जाने वाले हवाई जहाज में कुछ तकनीकी खराबी के कारण उन्हें यहां दो-चार दिन रुकना पड़ेगा। वह कोलाबा स्थित वॉटसन् होटल में जाकर ठहर गया। मॉरिस के दिमाग में एक ख्याल आया कि जो काम उसे ऑस्ट्रेलिया जाकर करना है, क्यों न उसे पहले बंबई (मुंबई) में ही अंजाम दिया जाए। वह 6 जुलाई 1896 को टाइम्स ऑफ इंडिया के दफ्तर गया और उसने अगले दिन के लिए एक विज्ञापन निकलवाया। दुनिया का अजूबा, पर्दे पर चमत्कार नाम से प्रचारित इस विज्ञापन को पढ़कर काफी लोगों की भीड़ होटल में जमा हो गई। 1 रुपए की प्रवेश दर से लगभग 200 दर्शकों ने 7 जुलाई 1896 की शाम सिनेमा के चमत्कार को देखा। भारत में सिनेमा देखने के प्रति लोगों के आकर्षण के कारण भीड़ निरंतर बढ़ रही थी इसलिए बाद में इस प्रदर्शन को मुंबई के 'नौवेल्टी थिएटर' में शिफ्ट कर दिया गया, जहां ये 15 अगस्त 1896 तक लगातार चलता रहा।

पहले दिन के पहले प्रदर्शन में बंबई के छायाकार हरिश्चन्द्र सखाराम भाटवड़ेकर उर्फ सावे दादा भी शामिल थे। उनके दिमाग में लुमिएर बंधु की फिल्में देखकर यह विचार उत्पन्न हुआ कि क्यों न इस प्रकार की स्वदेशी फिल्मों का निर्माण कर उनका प्रदर्शन किया जाए। वे बंबई में 1880 से अपना फोटो स्टुडियो संचालित कर रहे थे। सन् 1898 में उन्होंने लुमिएर सिनेमाटोग्राफ यंत्र 21 गिन्नी भेजकर मंगाया। सावेदादा ने बंबई के हैंगिंग गार्डन में एक कुश्ती का आयोजन कर उस पर लघु फिल्म का निर्माण किया। उनकी दूसरी फिल्म सर्कस के बंदरों की ट्रेनिंग पर आधारित थी। इन दोनों फिल्मों को उन्होंने डेवलपिंग के लिए लंदन भेजा। सन् 1899 में विदेशी फिल्मों के साथ जोड़कर उनका प्रदर्शन किया गया। सन् 1901 में आर.पी. परांजपे नामक छात्र

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से गणित में सबसे अधिक अंक प्राप्त कर भारत लौटा। उसका स्वागत करने बंदरगाह पर सैकड़ों लोग पहुंचे थे। सावेदादा ने इस बिरले अवसर को अपने कैमरे में कैद कर लिया। यह फिल्म भारत का पहला समाचार चित्र (न्यूज रील) माना जाता है। इस प्रकार भारत में सिनेमा बनाने के प्रयास शुरू हो गये। सावेदादा पहले भारतीय थे जिन्होंने अपने बुद्धि कौशल से स्वदेशी लघु फिल्मों का निर्माण कर प्रथम निर्माता-निर्देशक तथा प्रदर्शक होने का श्रेय प्राप्त किया।

दादा साहब फाल्के ने मुंबई के एक तंबू सिनेमा घर में "द लाइफ ऑफ क्राइस्ट" नामक फिल्म देखी। इस फिल्म ने उनको अत्याधिक प्रभावित किया। उन्होनें सोचा की "रामायण एवं महाभारत" पर ऐसी फिल्मों का निर्माण होना चाहिए। दादा साहब फाल्के को यहीं से फिल्म बनाने की प्रेरणा मिली। उन्होनें मन ही मन फिल्म बनाने का निश्चय किया और फिल्म की योजना पर काम शुरू कर दिया। दादा साहब कला एवं फोटोग्राफी की शिक्षा पहले ही प्राप्त कर चुके थे। उन्होनें मुंबई के प्रसिद्ध कला महाविद्यालय जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स से शिक्षा प्राप्त की थी एवं कला भवन बड़ौदा से फोटोग्राफी का प्रशिक्षण ले चुके थे। दादा साहब ने कला भवन बड़ौदा के फोटोग्राफी विभाग में नौकरी के दौरान तीन रंगों की छपाई सहित प्रिंटिंग काम भी सीख लिया था। दादा साहब को उस दौर के अनुसार कला एवं तकनीक का पर्याप्त ज्ञान एवं अनुभव था। उनको यह यकीन था कि "मैं फिल्म बना सकता हूँ"। इसी आत्मविश्वास के साथ वह कैमरा खरीदने के लिए लंदन पहुंचे। वहाँ पहुँचने पर पता चला कि कैमरा बेचने वाली कंपनियां मूल्य काफी ज्यादा बता रही है। दादा साहब लंदन से निकलने बाली पत्रिका 'बायोस्कोप' को नियमित रूप से पढ़ते थे। इस पत्रिका में सिनेमा के उपकरण बेचने वाली कंपनियों के पते एवं उपकरणों के नाम, मूल्य के साथ दिये रहते थे। जब वहाँ के बाजार में मालूम किया तो पत्रिका में छपे हुए मूल्य और बाजार में बताये जा रहे मूल्य में काफी अंतर था। अतः वह पत्रिका के संपादक 'कैबोर्न' से मिले। उन्होनें कैमरा खरीदने में दादा साहब की मदद की तथा पत्रिका के लेखक 'सिसिल हैपवर्थ' से भी मिलवाया। हैपवर्थ 'वाल्टन' फिल्म कंपनी में फिल्में बनाने का काम करते थे। उन्होनें दादा साहब को फिल्म बनाने का प्रशिक्षण दिया एवं फिल्म के सभी विभागों को देखने का अवसर भी दिया। 1 अप्रैल 1912 को दादा साहब फाल्के 'विलियम्सन' कैमरा एवं फिल्म से संबंधित उपकरण लेकर मुंबई वापस आए। मुंबई आ कर दादा साहब फाल्के ने फिल्म की योजना को अंतिम रूप दिया। दादा साहब कृष्ण लीला पर फिल्म बनाना चाहते थे लेकिन बजट को ध्यान में रखते हुए उन्होनें पहले राजा हरिश्चन्द्र को बनाने का निश्चय किया। फिल्म बनाने का कार्य शुरू हो

गया। सभी संसाधन जुटा लिए गए लेकिन बहुत तलाश एवं प्रयास करने के बाद भी फिल्म के लिए कोई अभिनेत्री नही मिल रही थी। अंततः उन्होनें एक पुरुष जो होटल में रसोइया था, उसे ही अभिनेत्री बनाने का निर्णय लिया। उसका अन्न सालुंके था। अथक परिश्रम एवं समस्याओं का सामना करने के बाद फिल्म पूर्ण हुई। 3 मई 1913 को भारत की पहली फिचर फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' को रिलीज किया गया था। इस फिल्म के रिलीज होने के साथ ही दादा साहब फाल्के भारत में सिनेमा के जनक बने। इस फिल्म के रिलीज होने के बाद भारत में फिल्म निर्माण का सिलसिला प्रारम्भ हो गया एवं कई शहरों में फिल्म निर्माण कंपनियाँ स्थापित हो गई। इस दौर में बनी फिल्में मुख्यता धार्मिक एवं पौराणिक विषयों पर आधारित थी।

सिनेमा में एक और बड़ा चमत्कार तब हुआ जब 1927 में गूंगी फिल्में बोलने लगी। 'जाज सिंगर' दुनिया की पहली बोलती फिल्म बनी। दुनिया सहित भारत में भी बोलती फिल्म बनाने के प्रयास शुरू हो गये। भारत में टॉकी फिल्म बनाने में सर्वप्रथम आर्देशिर ईरानी को सफलता मिली। उन्होनें 1931 में 'आलम आरा' नामक फिल्म बना कर पहली टॉकी फिल्म बनाने का खिताब अपने नाम कर लिया। जब फिल्में बोलने लगी तो सिनेमा में एक बड़ा परिवर्तन आया। इससे पहले फिल्मों का उद्देश्य सिर्फ मनोरंजन करना होता था। अब फिल्में मनोरंजन के साथ ही सामाजिक सरोकार से जुड़ने लगी एवं सामाजिक पृष्ठभूमि पर फिल्में बनना प्रारंभ हो गया। अब सिनेमा ने अपनी अभिव्यक्ति की शक्ति को पहचानना शुरू कर दिया था। भारत में स्पष्ट रूप से सामाजिक पृष्ठभूमि पर बनी 'अछूत कन्या' को माना जाता है। इस फिल्म का निर्माण 1936 में बॉम्बे टॉकीज ने किया था एवं इसके निर्देशक 'फ्रांज ऑस्टिन' थे। सामाजिक समरसता पर बनी यह फिल्म एक उकृष्ट दस्तावेज़ है। इसी कड़ी में वी. शांताराम की 'दुनिया ना माने' (1937), महबूब खान की 'औरत' (1940) एवं अन्य फिल्मों में 'अबला की शक्ति' (1940), मीनाक्षी (1942) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन फिल्मों में से 'अछूत कन्या' एवं 'दुनिया ना माने' में प्रस्तुत किए गए विषय आज भी प्रसांगिक बने हुए हैं। स्वतंत्रता से पूर्व बनी नारी विषयक फिल्मों में मुख्य रूप से स्त्रियों की शिक्षा, समानता, सामाजिक समरसता, विवाह, सामाजिक शोषण, स्त्री अस्मिता एवं अन्य समकालीन समस्याओं को प्रस्तुत किया गया था।

भारतीय समाज में स्त्रियों के लिहाज से एक दौर ऐसा भी गुजरा जब उन पर सामाजिक तौर पर कई पाबंदिया एवं मान्यताएँ थोपी गई थी। उन्हें घर से बाहर जाने के लिए भी लाख जतन करने पड़ते थे। शिक्षा स्त्री – पुरुष दोनों के सर्वांगीण विकास में सबसे महत्व पूर्ण भूमिका निभाती हैं। लेकिन उस दौर में शिक्षा के द्वार समान्यता स्त्रियों के लिए बंद थे। अतः उनकी प्रगतिशीलता

अवरुद्ध थी। किसी भी क्षेत्र में शिक्षा के महत्व को नॉबेल पुरस्कार प्राप्त व भारत रत्न से सम्मानित 'अमर्त्य सेन' के इस कथन से समझा जा सकता है। **"राष्ट्र में जनता के लिए समान रूप से शिक्षा को विकसित कर दीजिये, उनका विकास स्वतः ही हो जाएगा"**। भारत में स्त्री शिक्षा के लिए सावित्री बाई फुले ने कडा संघर्ष किया। उन्होनें स्त्री शिक्षा के लिए एक आंदोलन खड़ा किया और लाख यातनाएं व विरोध सहते हुए आंदोलन को मजबूती से थामें रखा एवं उसे लगातार आगे बढ़ाती रही। परिणाम स्वरूप स्त्रियाँ शिक्षित होने लगी। उनकी जागरूकता बढ़ने लगी। धीरे-धीरे समाज की मानसिकता में परिवर्तन शुरू हो गया और स्त्रियाँ विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत होने लगी। आज भारतीय स्त्रियाँ शिक्षा, साहित्य, कला, विज्ञान, तकनीक, मीडिया, प्रबंध, रक्षा सहित अन्य सभी सेवाओं एवं व्यापार में अपनी योग्यता व कुशलता साबित कर चुकी हैं। वर्तमान समय के इन सभी क्षेत्रों में वह कुशलता पूर्वक कार्य कर रही हैं, फिर सिनेमा कैसे अछूता रह सकता था।

सन् 1926 में 'फातिमा बेगम' ने 'बुलबुले परिस्तान' नामक फिल्म बनाकर पुरुषों के अधिपत्य वाले फिल्म निर्माण के क्षेत्र में अपने कदम बढा दिये थे। फातिमा बेगम ने अपना फिल्मी सफर अर्देशिर ईरानी के सहायक के तौर पर शुरू किया था। 1926 में 'फातिमा फिल्म्स' के नाम से अपनी फिल्म निर्माण संस्था बना कर निर्माण एवं निर्देशन प्रारंभ कर दिया और भारतीय सिनेमा के इतिहास की प्रथम महिला फिल्म निर्देशिका बन कर अपना नाम भारतीय सिनेमा के इतिहास में दर्ज करा लिया। लेकिन दुर्भाग्य से उनकी पहली फिल्म के प्रिंट आज उपलब्ध नही है। फातिमा बेगम के फिल्म निर्देशन में आने के बाद जद्दन बाई, मिस बिब्बो, विजया, प्रोतिमा दास गुप्ता, मंजु डे, लीला चिटनीस, निर्देशन के क्षेत्र में आगे आयी। हिन्दी सिनेमा में महिला निर्देशकों ने धीरे-धीरे ही सही पर उन्होनें लगातार अपनी मौजूदगी का अहसास कराया है। वर्ष 1926 में फातिमा बेगम से शुरू हुआ यह सफर आज 90 साल बीत जाने के बाद भी महिला फिल्म निर्देशक अपना स्थान बनाने के लिए संघर्षरत हैं। फिल्म निर्माण में निर्देशन की राह थोड़ी कठिन होने के बाबजूद भी वे निरंतर अपनी उपस्थिती दर्ज करा रही हैं। महिला फिल्म निर्देशकों ने अपनी फिल्मों से अपनी योग्यता, ज्ञान, रचनात्मकता, कौशल एवं क्षमता को साबित किया हैं। हमारे देश में महिला फिल्म निर्देशकों की संख्या बहुत कम है। अगर दिमाग पर थोड़ा सा ज़ोर डालें तो उनकी संख्या को आसानी से उँगलियों पर गिना जा सकता है। लेकिन फिर भी अधिकतम लोग न इन निर्देशकों को नही जानते हैं और ना ही उनके कार्य से परिचित हैं। महिला

फिल्म निर्देशकों को हिन्दी सिनेमा में हमेंशा नजर अंदाज किया गया है। जबकि उन्होनें उम्दा कार्य किया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद महिलाओं को शिक्षा सहित सभी क्षेत्रों में समान अधिकार हुए और उन्होनें सभी क्षेत्रों में अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज कराई है। हिन्दी सिनेमा में भी कुछ बहुत प्रतिभाशाली फिल्म निर्देशिकाओं ने दस्तक दी। उनके कार्य को न केवल सराहा गया बल्कि देश विदेश में प्रशंसा और पुरस्कार भी प्राप्त हुए। 1950 में शोभना समर्थ ने 'हमारी बेटी' नामक फिल्म बना कर सरानीय प्रयास किया। सुलभा देशपांडे 'राजा रानी को पसीना चाहिए', रीमानाथ 'मुहब्बत', पद्मा खन्ना 'हे तुलसी मैया' एवं सिमी ग्रेवाल 'रुखसत' फिल्म का निर्देशन करके महिला फिल्म निर्देशकों की परम्परा को बनाए रखा। इस क्षेत्र में एक बड़ा परिवर्तन देखने को तब मिलता है, जब 'साईं परांजपे' ने एक से बढ़ कर एक उत्कृष्ट फिल्मों का लगातार निर्देशन किया। उनकी फिल्मों को न केवल दर्शकों का प्यार मिला बाल्कि आलोचकों ने खूब सराहा। 1972 से इन्होंने लघु फिल्मों से सफर शुरू किया और 1977 में अपनी पहली फ़ीचर फिल्म 'स्पर्श' बनाई। यह फिल्म अंधों की मन:स्थिति को, उनके आत्मसम्मान, उनके मन:संघर्ष को उजागर करती है। इस फिल्म को राष्ट्रपति पुरस्कार मिला। सई परांजपे जहाँ एक ओर 'स्पर्श' जैसी सार्थक और गंभीर फिल्म बनाती हैं वहीं दूसरी ओर 'चश्मेबद्दूर' जैसी साफ-सुधरी कॉमेंडी भी उसी लगन से बनाती हैं। यह फिल्म महानगर में रह रहे तीन नौजवान दोस्तों की कहानी है। ये लड़कियों का पीछा कर उन्हें पटाने का प्रयास करते हैं। तेज तर्रार दोस्त हाथ मलते रह जाते हैं और सबसे झेपूँ युवक बाजी मार लेता है। तीनों दोस्तों की मासूमियत देखते बनती है। यह वह जमाना था जब प्रेम करने वाले बड़े मासूम हुआ करते थे उनके प्रेम में स्वार्थ नही था। उस दौर में प्रेमी प्यार और प्यार के रिश्ते का सम्मान करते थे। साईं परांजपे निरंतर फिल्मों का निर्देशन करती रहीं और भारत के निर्देशकों के बीच इनका नाम अपनी मजबूत पहचान बना चुका था। इन्होनें 'स्पर्श', 'चश्मे बद्दूर', 'कथा', 'दिशा', 'चूड़ियाँ', 'पपीहा', 'साज' आदि फिल्मों का निर्देशन किया। इन फिल्मों को अच्छी सफलता मिली और समीक्षकों ने भी इन फिल्मों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इसके अलावा बच्चों के लिए दो फिल्में बनाई। साईं परांजपे ने 1980 में 'स्पर्श' फिल्म बना कर अपने कैरियर में एक ऊंचा स्थान प्राप्त कर लिया था। इस फिल्म ने पाँच पुरस्कार जीते जिसमें 'नेशनल फिल्म पुरस्कार' भी शामिल है। इनकी बनाई 'कथा' एक मर्म स्पर्शी फिल्म है। जो सीधे-सरल तरीके से अपनी बात को प्रस्तुत करती है। 'दिशा' भी साईं परांजपे की एक ऐसी ही फिल्म है जिसमें वह मजदूर की व्यथा को बहुत संवेदनशीलता के साथ जमीनी तौर पर पेश करती

हैं। साईं परांजपे ने फिल्म, टी.वी. रंगमंच के क्षेत्र में पर्याप्त काम किया है। इनको राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार एवं पदम भूषण सहित कई अन्य पुरस्कार भी मिले हैं। इस समय हिन्दी सिनेमा में साईं परांजपे महिला निर्देशकों में सबसे ज्यादा फिल्म बनाने बाली निर्देशिका हैं।

भारत की पहली प्रशिक्षित महिला फिल्म निर्देशक अरुणा राजे पाटिल ने 'स्त्रीवादी' सिनेमा को स्थापित करने में अहम भूमिका निभाई है। अरुणा राजे FTII पुणे से सम्पादन एवं निर्देशन में प्रशिक्षण प्राप्त की हैं। इन्होननें महिलाओं की यथार्थ समस्याओं को पूरी संवेदनशीलता व सार्थकता से प्रस्तुत किया है। अरुणा राजे स्त्री निर्देशिकाओं की सूची में एक प्रतिभाशाली नाम है। इन्होनें 'रिहाई' 'शक' 'गहराई' आदि फिल्मों का निर्देशन किया हैं। इन्होनें अपनी फिल्मों में स्त्री के प्रति समाज की मानसिकता, उसके जीवन के मनोविज्ञान, अपने जीवन के प्रति स्त्रियों की मानसिकता, स्त्रियों के द्वारा अपने जीवन में उठाए गए साहस पूर्ण कदम, स्त्रियों के प्राकृतिक गुण एवं उनकी प्रगतिशीलता के मुद्दे और समाज व पुरुषों का स्त्रियों के प्रति दोहरे दृष्टिकोण को स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया हैं। अरुणा राजे ने कभी अपनी रचनात्मकता के साथ समझौता नहीं किया। उन्होनें अपनी फिल्मों में उठाए गए विषय को पूरी सार्थकता के साथ अंतिम रूप दिया हैं।

मीरा नायर का नाम जेहन में आते ही 'सलाम बॉम्बे' एवं 'मानसून वैडिंग' जैसी फिल्मों के दृश्य उभर कर आते है। मीरा नायर अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त महिला फिल्म निर्देशिका है। उन्होनें हमेंशा सामाजिक पृष्ठभूमी वाली सार्थक फिल्मों का निर्देशन किया है। मनोरंजन के नाम पर कुछ भी परोस देना उनका उद्देश्य नहीं है। उनका उद्देश्य हमेंशा सार्थक सिनेमा बनाने का रहा है। कांस फिल्म समारोह में वह पुरस्कार पाने बाली पहली भारतीय है।

दीपा मेहता लीक से हटकर फिल्में बनाने बाली साहसी फिल्म निर्देशिका है। दीपा मेहता अपनी रचनात्मकता एवं कथानक के साथ किसी तरह का समझौता नहीं करती। इसका उदाहरण 'फायर' और 'वॉटर' में दर्शक देख चुके है। जब तक वह कथानक और पटकथा से पूरी तरह संतुष्ट नही हो जातीं, फिल्म का निर्देशन नही करतीं। दीपा मेंहता के अनुसार "सिनेमा केवल मनोरंजन का साधन नही है"। दीपा मेहता ने अपने अब तक के फिल्मी सफर में अपनी अधिकतम फिल्मों में स्त्री की मानवीय संवेदनाओं को गहन शोध के साथ पर्दे पर प्रस्तुत किया है।

गुरिंदर चड्डा भारतीय मूल की एक गुणी फिल्म निर्देशक है। जो अपनी संवेदनशील भावनात्मक फिल्में बनाने के लिए जानी जाती है। इन को 'भाजी ऑन द बीच', 'बेंड इट लाइक बेकहम' और 'ब्राइड एंड प्रिज्यूडिस' जैसी फिल्मों के लिए जाना जाता है। इनके अलाबा इन्होने

कई फिल्मों का निर्देशन किया है। इनकी फिल्में भावनात्मक रूप से बहुत मजबूत होती है। जो दिलों को छू जाती है। साथ ही कुछ गहरे सबाल भी छोड़ जाती हैं। इनका कहानी कहने का तरीका और इनकी निर्देशन शैली इनको एक अलग पहचान दिलाती है। इनकी फिल्मों को कई अंतर राष्ट्रीय समारोहों में सराहा गया है एवं पुरस्कार भी प्राप्त हुए है।

'राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार' प्राप्त कल्पना लाज़मी को उनके द्वारा निर्देशित 'नारीवादी फिल्मों' के लिए जाना जाता है। इन की स्त्री शोषण को लेकर रुद्राली, दमन, चिंगारी आदि फिल्मे अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होनें थर्ड जेंडर को लेकर एक बेहद संवेदनशील फिल्म 'दरमिया' का निर्देशन भी किया है।

नंदिता दास एक बहुमुखी प्रतिभा की धनी अभिनेत्री व निर्देशिका है। यह अपनी दमदार भाव प्रधान सशक्त अदाकारी के लिए पहचानी जाती है। फायर, अर्थ, फिराक, अक्स, हजार चौरासी की माँ, पिता आदि फिल्मों में अपने अभिनय से सबको प्रभावित किया है। सन् 2008 में निर्देशन के क्षेत्र में कदम रखा। 'फिराक' नंदिता दास की पहली निर्देशित फिल्म थी। 'फिराक' को दुनियाभर में काफी सराहना मिली है। 2002 गुजरात में हुई सांप्रदायिक हिंसा के बाद उपजे हालात पर बनी एक बेहद संवेदनशील फिल्म है। इस फिल्म को दो राष्ट्रीय पुरस्कार सहित कई अन्य पुरस्कारों से नवाजा गया। नंदिता दास अपनी अदाकारी व निर्देशन के लिए अनेक राष्ट्रीय व अंतर राष्ट्रीय पुरस्कार पा चुकी है, इनकी अभिनय व निर्देशन यात्रा अभी जारी है।

हिन्दी सिनेमा के इतिहास में एक दौर ऐसा भी गुजरा है जब सई परांजपे, कल्पना लाजमी, दीपा मेंहता, अरुणा राजे, अपर्णा सेन, मीरा नायर जैसी महिला निर्देशिकाओं में अच्छी फिल्म बनाने की स्वस्थ प्रतिस्पर्धा रहती थी। सार्थक सिनेमा एवं स्त्री विषयक सिनेमा को पहचान दिलवाने में इन निर्देशिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन निर्देशकों के बाद महिला फिल्म निर्देशकों ने दस्तक तो दी लेकिन वह स्वतंत्र रूप से पहचान कायम नही कर सकी। इसके बाद हिन्दी सिनेमा में काफी समय तक समर्पित महिला निर्देशक नही आई लेकिन सन् 2000 के बाद कई प्रतिभाशाली निर्देशकों ने अपनी उपस्थिती दर्ज कराई है। जिनमें मेघना गुलजार का नाम उल्लेखनीय है। जिन्होने 'तलवार' फिल्म का निर्देशन किया। यह फिल्म चर्चित आरुषि हत्याकांड पर आधारित थी। इसी कड़ी में रीमा कागति, अनुषा रिज़्वी, दिव्या कुमार, पूजा भट्ट, किरण राव, भावना तलवार, गौरी शिंदे, ज़ोया अख्तर, नूपुर अस्थाना, राजश्री ओझा, लीना यादव आदि के नाम लिए जा सकते है जिन्होनें लगातार फिल्मों का निर्देशन किया हैं। नई खेप में आई

निर्देशकों में जोया अख्तर असीम संभावनाओं से भरी नजर आती हैं। रचनात्मकता भले उन्हें विरासत में मिली हो, लेकिन सिर्फ तीन फिल्मों से उन्होनें खुद को बतौर काबिल फिल्म निर्देशक के रूप में स्थापित कर चुकी हैं। 'लक बाय चांस' और 'ज़िन्दगी ना मिलेगी दोबारा' एवं 'दिल धड़कने दो' ऐसी फिल्में हैं, जो जोया जैसी युवा प्रतिभाशाली महिला निर्देशक की सोच ही बुन सकती हैं। जोया ने इन फिल्मों में मानवीय व पारिवारिक रिश्तों को को एक नए विस्तार के साथ सामने रखा है, जिसमें आज के आधुनिक दौर में रिश्तों के बदलते मूल्यों और उनकी महत्वता को प्रस्तुत किया है। फिल्म फेयर अवॉर्डस में उनकी फिल्म ज़िन्दगी ना मिलेगी दोबारा ने सर्वश्रेठ निर्देशन समेत सात पुरस्कार हासिल किए थे।

नई महिला निर्देशकों में गौरी शिंदे एक उच्च शिक्षित एवं प्रतिभाशाली निर्देशक है। इसे उन्होनें अपनी पहली ही फिल्म 'इंग्लिश विंगलिश' से साबित कर दिया। यह फिल्म महिला प्रगतिशीलता का उम्दा उदाहरण है। यह फिल्म बताती है कि जीवन में शादी, घर, परिवार, बच्चों में व्यस्त हो जाने के बाद जिंदगी अवरुद्ध नहीं हो जाती। इन सब के बाद भी जीवन में कुछ नया सीखा जा सकता है, जीवन में आगे बड़ा जा सकता है, लक्ष्य को प्राप्त कर तरक्की की जा सकती है। यह फिल्म सकारात्मकता के साथ एक बहुत अच्छा संदेश भी देती है कि जीवन में अपनी कमजोरियों से भागना नही चाहिए। आत्मविश्वास और प्रयास से किसी भी कमजोरी या समस्या का समाधान किया जा सकता है। इसके बाद इन्होनें 'डियर जिंदगी' का निर्देशन किया। वर्तमान समय में गौरी शिंदे की निर्देशन यात्रा जारी है।

सन् 2000 के बाद आई फिल्म निर्देशकों में लीना यादव भी प्रशिक्षित प्रतिभाशाली महिला फिल्म निर्देशक हैं। इन्होनें अपने फिल्मी कैरियर की शुरुआत सन् 2005 में 'शब्द' फिल्म से की लेकिन 2016 में आई इनकी बेहद संवेदनशील फिल्म 'पर्चड' ने इनको प्रतिभाशाली निर्देशक के रूप में स्थापित कर दिया। यह फिल्म स्त्री शिक्षा, शारीरिक शोषण, बाल विवाह, दहेज, आदि स्त्री अस्मिता से जुड़े जरूरी मुद्दे प्रस्तुत करती है। अरुणा राजे की 'रिहाई' के बाद 'स्त्री विमर्श' को हिंदी सिनेमा में महत्वपूर्ण स्थान दिलाने में सार्थक सिनेमा ने अहम भूमिका निभाई है। सन् 2016 में आई लीना यादव की फिल्म 'पर्चड' महिला जीवन की समस्याओं व यथार्थ को बिना किसी मिर्च मसाले के सीधी सरल भाषा में प्रस्तुत करती है। यह फिल्म दिखाती है कि स्त्री की कामुकता को उसके गुणों से ज्यादा अहमियत दी जाती हैं। अस्सी के दशक में अरुणा राजे ने हिन्दी सिनेमा में 'स्त्री विमर्श' की जो सार्थक धारा शुरू की थी उसे तीन दशक बाद लीना यादव ने 'पर्चड' के माध्यम से आगे बढ़ाने का प्रयास किया है।

सन् 1926 में फातिमा बेगम से शुरू हुआ हिन्दी सिनेमा में महिला फिल्म निर्देशकों का सफर आज नौ दशक पुराना हो चुका है। महिला फिल्म निर्देशकों ने कई सार्थक फिल्मों का निर्माण एवं निर्देशन किया है। उन्होनें सामाजिक पृष्ठभूमि पर फिल्में बनाकर कई ऐसे विषयों को सामने लेकर आई हैं, जो समाज और महिलाओं की दृष्टि से जरूरी व संवेदनशील है जिन्हे अनदेखा किया गया था। साथ ही हिन्दी सिनेमा में अपनी सार्थक फिल्मों से 'स्त्री विमर्श' को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। महिला फिल्म निर्देशकों ने अपनी कला, समर्पण, रचनात्मकता एवं योग्यता से खुद को हर बार सावित किया है। महिला फिल्म निर्देशकों ने भारतीय सिनेमा को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ले जाने में उल्लेखनीय योगदान दिया है। कई राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त करने के बाद भी वह हिन्दी फिल्म इंडस्ट्री में अपने आप को स्थापित करने के लिए निरंतर प्रयासरत है।